इस्लाम और मुसलमान

डॉ. शंकर शरण

चिन्तन-सृजन

वर्ष-14, अंक-2

इस्लाम और मुसलमान

शंकर शरण*

एक विचार, विचारधारा या मतवाद तथा एक व्यक्ति या जन समुदाय में बुनियादी अंतर होता है। तदनुरूप उन दोनों के प्रति व्यवहार में भी अंतर होना ही चाहिए।

इस्लाम (जिसे हाल तक इस के अधिक सही नाम से पुकारा जाता था: मोहम्मेडनिज्म या मुहम्मदी मत) के मामले में प्रायः यह बात भुला दी जाती है। इस्लाम को मानने वाला व्यक्ति उस से उसी तरह बँधा जुड़ा नहीं है, जैसे उस की त्वचा का रंग या नस्ल। जैसे, कोई काला या गोरा है, तो वह आजन्म वैसा ही रहेगा। इसी तरह, कोई स्लाव या मंगोल नस्ल का है, तो उस के व्यक्तित्व का यह तत्व बदल नहीं सकता। किंतु इस्लाम एक मत है, इसे स्वीकारने वाले नए लोग आते हैं, तो इसे छोड़ कर जाने वाले भी हैं। अर्थात्, यह किसी के साथ जैविक जैसा स्थाई गुण नहीं है। यह स्वैच्छिक चुनाव है। धर्मांतरण के आवाहन भी इसी का प्रमाण हैं। अतः इस्लाम का जैवीकरण करने की भूल नहीं करनी चाहिए।

मतवाद, सिद्धांत, विचारधारा एक चीज है, मनुष्य दूसरी चीज। इसलिए मतवाद से हमारा बर्ताव और उसे मानने वाले मनुष्य से बर्ताव एक ही नहीं हो सकता। वैसे भी, जो मतवाद खुल कर राजनीति में संलग्न हो, जिस में दबदबे, डॉमिनेंस, राज्य, शासन, कानून, युद्ध, टैक्स, बैंकिंग, आदि की शब्दावली प्रमुखता से स्थापित हो, वह सर्वप्रथम राजनीतिक विचारधारा है, जिस की आलोचना करना तो मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है! यह अधिकार न देने की जिद रखना स्वतः उस मतवाद का तानाशाही चरित्र प्रमाणित करेगा। इस पर चुप्पी उस तानाशाही को मान्यता देना हुआ, जो हर हाल में हानिकारक है।

इस्लाम की आलोचना को किसी समुदाय की 'भावना' को चोट पहुँचाना कहना कोरा अज्ञान या छलपूर्ण चतुराई है। किसी मत, विचार, सिद्धांत की उपयुक्तता का निर्णय भावना से नहीं होता। विशेषकर, ऐसा मत जो स्वयं को सत्य, बल्कि 'एक

* संपर्क : 4/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, अरविन्दो मार्ग, नई दिल्ली-110016

मात्र' सत्य कहता हो, उसे तो सत्य की कसौटी पर खरा उतरना होगा। अन्यथा यह जबर्दस्ती हुई, जो उस के खतरनाक तानाशाही राजनीतिक चरित्र की ही पुष्टि करेगी।

इसीलिए, भारत के संदर्भ में हिन्दू मुस्लिम सह अस्तित्व को सदा, सर्वदा के लिए स्थाई मान कर कोई समाधान नहीं सोचना चाहिए। विशेषकर तब, जब हिन्दू मुस्लिम के अंतर पर कभी खुल कर विमर्श किया ही नहीं जाता। उस पर एक तरह का प्रतिबंध लगा रहा है। जबकि यह गंभीर बिन्दु है, जिस में कई समस्याओं की जड़ छिपी हुई है। भारत और पाकिस्तान को, बल्कि भारत में भी हिन्दू और मुसलमानों को अलग करने वाली चीज केवल इस्लाम है। इस के सिवा हर चीज में वे एक जैसे हैं, क्योंकि वे एक ही ऐतिहासिक, नस्ली, सांस्कृतिक, भाषाई समूह हैं। भारत (और पाकिस्तान, बंगलादेश) के आम मुसलमान बाहर से आए लोग नहीं, न वे हमेशा से मुसलमान थे।

यही नहीं, यहाँ हिन्दू मुस्लिम आपसी संबंध बार बार बदलते रहे हैं। अतः अभी यह जहाँ, जैसा है, वैसा ही स्थाई मानकर चलना बड़े भ्रम का शिकार होना है। हाल का इतिहास गवाह है कि गाँधीजी, नेहरू और पूरी कांग्रेस ने इसी भ्रम में करोडों हिन्दुओं सिखों को अनजाने तबाह किया। आज सभी मानते हैं कि 1947 के देश विभाजन से 'वैसा होगा', यह किसी ने कल्पना नहीं की थी! सच तो यह है कि उस के बाद पाकिस्तान द्वारा 1948, 1965, 1971 और 1999 के आक्रमणों की भी नेहरू और कांग्रेस ने आशा नहीं की थी। फिर, भारतीय शासन में कश्मीर से हिन्दू मार भगा दिए जाएंगे, इस की भी कल्पना नहीं की गयी थी।

प्रश्न है, क्यों नहीं की गयी थी, या क्यों नहीं कर सकेघ् उत्तर उसी बिन्दु में है जिसे ऊपर उठाया गया। मतवाद से बर्ताव, और उस मत को मानने वाले से बर्ताव में अंतर न रखने से यह भूल हुई। हिन्दू मुस्लिम सह अस्तित्व को स्थाई मानने से भूल हुई। क्योंकि किसी मतवाद विशेष का चरित्र ही इसे खारिज कर सकता है। यदि कोई मतवाद दूसरे मतों का कोई अधिकार स्वीकार ही नहीं करता, तो वह सह अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करता। तब वह निरंतर उसे तोड़ने, बदलने के लिए प्रयत्नशील रहेगा। इसी तथ्य को नोट नहीं करने से गाँधीजी और कांग्रेस से वह भूल हुई, जैसी आज भी की जा रही है।

मुस्लिम गैरमुस्लिम सहअस्तित्व स्थाई नहीं है। इस्लाम और लोकतंत्र साथ नहीं रह सकता। शरीयत या इन्सानियत, दोनों में से एक ही बचेगी। यही वह मतवादी गुत्थी है, जिसे सुलझाए बिना किसी भी समाधान की आशा दुराशा रहेगी। इस्लाम को कृत्रिम, बाह्य मतवाद न मानने, और उसे मुस्लिम समुदाय का अंतर्गठित, जैविक, अविभाज्य अंग मानने से ही मामला नस्ली जैसा रूप ले लेता है। मानो दो समुदायों में भेद और विवाद स्थाई हो। जबकि यहाँ करोडों मुसलमान दस ही पीढ़ी पहले मुसलमान नहीं थे। खुद जिन्ना और इकबाल, यानी पाकिस्तान के संस्थापक, के पूर्वज तीन ही पीढ़ी पहले हिन्दू थे।

अतः समझना होगा कि एकाधिकार, विशेषाधिकार और अलगाववाद इस्लामी मतवाद का अविभाज्य अंग है, जो लोकतंत्र और मानवीय विवेक, दोनों के विरुद्ध

पड़ता है। क्योंकि वह दूसरों को किसी हाल में बर्दाश्त नहीं करता। लाचारी और चीज है, लेकिन इस से भी यही दिखता है कि मौका मिलते ही वर्चस्व, विशेषाधिकार या अलगाव की लड़ाई शुरू हो जाएगी। यह इतना पक्का है कि इस्लाम के अंदर भी मतभेद स्वीकार्य नहीं है। इसीलिए शिया, अहमदिया, बंगाली, हजारा, यजदी, आदि का सामूहिक संहार होता है। एक जगह नहीं, हर देश में, जहाँ भी ताकत बढ़ी या मौका मिला, इस्लाम यही करता रहा है। इसलिए, वर्चस्व, एकाधिकार और दूसरों को मिटाना इस्लाम का मूल सिद्धांत है। कुरान और हदीस में इस के अंतहीन आवाहन हैं। उसे झुठलाने, लीपा पोती करने, मीठी व्याख्या करने, आदि से आज तक कोई लाभ नहीं हुआ है, सिवा खुद भ्रमित रहने और दूसरों को भ्रमित करने के। वह मधुर व्याख्याएं प्रायः कोई मुसलमान नहीं मानता, जो खुद मूल किताबें पढ़ ले। इसीलिए आधिकारिक इस्लामी संस्थान, बड़े ईमाम, अयातुल्ला प्रायः वह लीपापोती वाली बातें कभी नहीं करते, जो बौद्धिक बहस मुबाहसों में लेखक, नेता, प्रोफेसर आदि करते रहते हैं। इस्लाम की बातें बिलकुल साफ, सीधी और संक्षिप्त हैं, जिसे न समझना जानबूझ कर नासमझ बनना है।

दूसरे मतों, धर्मों, विचारों के साथ सह अस्तित्व को खुद इस्लाम जोर देकर खारिज करता है। अतः यह स्पष्ट जानना चाहिए कि इस्लामी मतवाद के साथ किसी मनुष्य का संबंध वैचारिक स्वीकार्यता पर निर्भर है। यदि कोई हिन्दू से मुसलमान बना था, तो वह उसी रास्ते से वापस भी आ सकता है। इस्लाम से वह अपना संबंध तोड़ सकता है। निस्संदेह, इस्लाम इसकी इजाजत नहीं देता!

आगे बढ़ने से पहले यह जान लेना उपयोगी होगा कि इस्लाम के संबंध में ऐसी बातें दुनिया के महानतम दार्शनिकों, चिंतकों और विश्व प्रसिद्ध नेताओं ने भी कही हैं। आज नहीं, सदियों पहले से, विभिन्न देशों, कालों में, जिन में खुद मुस्लिम नेता व विद्वान भी रहे हैं। उन महानों में कुछ नाम इस प्रकार हैं—तॉकेविले, मांटेस्क्यू, शॉपेनहावर, वाल्टेयर, दान्ते, मुस्तफा कमाल पाशा, बर्ट्रेंड रसेल, विंस्टन चर्चिल, जॉन एडम्स, डेविड ह्यूम, मुहम्मद इब्न जकरिया राजी, एडवर्ड गिब्बन, बर्नार्ड शॉ, मार्क ट्वेन, उमर खैयाम, थॉमस कार्लाइल, विलियम ग्लैडस्टोन, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रवीन्द्रनाथ टैगोर, आदि। इस से इतना समझ लेना चाहिए कि इस्लाम के प्रति आलोचनात्मक, सत्यनिष्ठ बातें कहने का आग्रह कोई हमारा नया प्रयत्न नहीं है। बल्कि पुराने सच को ही फिर से याद करने जैसा है, क्योंकि यह आवश्यक और आज के लिए अति प्रासंगिक है।

यह सामान्य तथ्य है, जिसे मानने में शायद ही किसी को आपत्ति होगी कि कोई सच्चा ज्ञान—चाहे वह सामाजिक हो, या वैज्ञानिक, दार्शनिक, धार्मिक—वह स्वतः अपने बूते खड़ा होता है, या बूता न होने पर गिरता, ढहता भी है। किसी सच्चे सिद्धांत को मानने, मनवाने के लिए हिंसा नहीं करनी पड़ती। जैसे, गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत या योग विज्ञान। इसे लोग मानें, इस के लिए किसी वैज्ञानिक या योगी को धमकी

देने की जरूरत नहीं है! बल्कि उसे इस से कोई मतलब ही नहीं है कि लोग उसे मानते हैं या नहीं। अर्थात्, वैचारिक, धार्मिक अवधारणाएं यदि सत्य या उपयोगी हैं, तो अपनी सत्ता स्वयं मनवा सकती हैं। उस के लिए उन्हें अपने अनुयायियों, विश्वासियों द्वारा किसी मदद की जरूरत नहीं होती। जैसे, उपनिषद् या गीता का ज्ञान स्वयं अपनी उपयोगिता सिद्ध करता रहा है। उसे दुनिया में फैलाने, पढ़ाने के लिए किसी को लाठी या बंदूक दिखाने की आवश्यकता कभी नहीं पड़ी। और वह उपनिषद् और गीता मानवता के साथ हजारों वर्षों से है। यह उस की अपनी सामर्थ्य है।

जबकि कुरान में मौजूद अल्लाह और उस का पैगंबर, दोनों ही इस दृष्टि से पूर्णतः दुर्बल हैं। बिना हिंसा बल और उस के प्रयोग के वे चार कदम भी चलने में निहायत लाचार दिखते हैं। कुरान में दर्जनों ऐसी आयतें हैं जो गैर मुसलमानों को मार डालने और उन के प्रति साधिकार हिंसा का आदेश देती हैं। मुहम्मद की कोई भी जीवनी उठाएं, उस में उन के द्वारा लड़े गए युद्धों का वर्णन सविस्तार मिलता है। वे युद्ध भी अधिकांश दूसरों पर हमले और छल बल हिंसा द्वारा अधिकार जमाने के हैं, दूसरों द्वारा हमले पर बचाव के नहीं। युद्ध और विस्तार के इस दृश्य की तुलना में मुहम्मद को कहीं दार्शनिक प्रवचन देते या लोगों को अपने विचारों से कायल कर लेने का कोई उदाहरण शायद ही मिलता है।

इसी से यह बात समझी जा सकती है कि इस्लाम किसी को अपने घेरे से बाहर जाने की इजाजत क्यों नहीं देता, जबकि बाहर के लोगों को अंदर लाने के लिए सदैव लालायित रहता है। यह आरंभ से ही एक राजनीतिक विचारधारा है, कोई आध्यात्मिक, दार्शनिक चीज नहीं। इस सचाई की परख चौदह सौ वर्षों के संपूर्ण इस्लामी इतिहास से हो सकती है। जिस तरह खुद उस के संस्थापक मुहम्मद को अपना दावा तलवार के बल पर ही मनवाना पड़ा, उसी तरह आज भी इस्लामी नेता, शासक, आलिम, प्रवक्ता, सभी केवल हिंसा और हिंसा की धमकी के सिवा कोई उपाय नहीं जानते। मुसलमानों को भी अपने अधीन रखने के लिए, उन की शंकाओं, आलोचनाओं को दबाने के लिए उन के पास मौत के फतवे के सिवा कोई उपाय नहीं। ऐसे मतवाद को स्थाई मानना बड़ी भारी भूल है। मानवीय विवेक इस के जाले झाड़ को आज नहीं कल साफ कर हटा देगा। जैसे, उस ने कम्युनिज्म का हटाया।

इसलिए, हिन्दू मुस्लिम संबंधों की समस्या को स्थाई सह अस्तित्व की दृष्टि से समझना, तय करना भूल है। इस का सैनिक तरीके या कानूनी उपायों से भी समाधान चाहना भी बेकार की बातें हैं। ऐसी कल्पनाएँ अज्ञानवश की जाती हैं।

इस्लाम के साथ बर्ताव संख्या बल पर नहीं, चेतना के बल पर करना सर्वाधिक उपयुक्त है। लोग किसी दिन इस्लाम में आए, और एक दिन छोड़ कर जाएंगे। यह परिवर्तनशीलता का अटल नियम है। यदि यह न होता, तो किसी शंका पर खुद मुसलमान लेखकों, कवियों, विचारकों, का कत्ल करना और उन पर मौत के फतवे देने की कोई जरूरत नहीं थी। यह परिवर्तन रोकने का ही प्रयास है। मगर यह दयनीय है, जिसे समझने

और प्रकृति अनुरूप चलने देने पर जोर देने की जरूरत है। स्वेच्छा, न कि बल प्रयोग मानव समुदाय के सहज विकास की प्रवृत्ति है। इसे समर्थन देना चाहिए।

हिन्दू लोग भारत और सारी दुनिया में विभिन्न समुदायों के साथ रहते हैं। कहीं उन का झगड़ा किसी और समुदाय के साथ नहीं होता। तब मुसलमानों से ही क्यों होता है। दूसरी ओर, मुसलमानों का सारी दुनिया में हर कहीं, हर समुदाय के साथ झगड़ा है। कहीं वे शांति से रहते नहीं दिखते। ईसाई, यहूदी, बौद्ध, सिख, हर किसी से उन की लड़ाई चल रही है। इस की कोई व्याख्या नहीं, सिवा इस के कि इस्लाम का मूल सिद्धांत दूसरों के साथ स्थायी दुश्मनी है। पूरी कुरान में जो सब से अधिक दुहराई बात है, वह यही कि गैर मुस्लिमों को खत्म करो, उन्हें हीन अवस्था में रखो या उन्हें इस्लामी दायरे में लाओ। कुरान में 70 से अधिक आयतें ऐसे आवाहन करती हैं। दुनिया भर में मुसलमानों की लड़ाई की जड़ यही है।

मुसलमानों को इन आवाहनों की व्यर्थता से अवगत कराना ही एक मात्र उपाय है। इस की व्यर्थता समझना सरल भी है। जब आप जोर जबर्दस्ती किसी को मुसलमान बनाते रहे, उसी बल पर अपने अंदर रखते रहे—इस्लाम छोड़ने पर मौत की सजा का यही मतलब है—तब दूसरों से शिकायत की तुक ही क्या है? जब आपके पास ताकत थी, तो आपने अरब ही नहीं, यूरोप, अफ्रीका, और एसिया, जहाँ तक संभव हुआ, सब को खत्म किया, या मुसलमान बनाया। सारी आधिकारिक इस्लामी किताबें गर्व से इस का बयान करती हैं!

आज जिहादी खुली लड़ाई नहीं जीत सकते, इसलिए आतंकी हमले चल रहे हैं। यदि खुले सैनिक बल पर जीत सकते, तो सदियों पहले इधर हिन्दुस्तान, उधर रूस और स्पेन में इस्लामी सेनाएँ रुक नहीं गई होतीं। न ऑटोमन साम्राज्य और खलीफत खत्म हुई होती।

फिर सन् 1924 में तुर्की में, विश्व इस्लाम के खलीफा के केंद्र में, मुस्तफा कमाल पाशा ने उस खलीफत को यह कह कर खत्म किया कि इस्लाम और कुरान 'मृत' हो चुके हैं! पाशा ने सीधे आदेश दे कर तुर्की से विश्व इस्लाम के खलीफा के साथ साथ शरीयत, अरबी भाषा और इस्लामी वेश वूषा को देश निकाला दे दिया था। यह एक आधुनिक, लोकप्रिय मुसलमान ने किया था! भारत के मुहम्मद अली जिन्ना भी कमाल पाशा के दीवाने थे। क्या पता, यदि गाँधी राजनीति में न आए होते, या उन्होंने जिन्ना को उपेक्षित, तिरस्कृत न किया होता, तो आज भारत, और दुनिया की तस्वीर क्या होती!

फिर न केवल खुद सब से बड़े और लोकप्रिय तुर्क नेता ने इस्लाम को तुर्की से बाहर कर दिया था, बल्कि आज भी तुर्की में शरीयत का शासन नहीं है। चाहे, इस्लामवादी उस का प्रयत्न करते रहे हैं।

फिर सारा क्रोध ही इस बात पर है कि 'एक मात्र सत्य' का कुछ नहीं बन रहा। जबकि जिन काफिरों को मिट्टी में मिल जाना चाहिए था, वे हर चीज में आगे हैं। इतने

आगे कि हर चीज उन्हीं से लेनी, खरीदनी, माँगनी पड़ रही है। विज्ञान तकनीक की सारी उन्नति और सुविधा के सारे आविष्कार यूरोपियनों, अमरीकियों, एसियाइयों की देन हैं, जिन का उपभोग दुनिया भर के मुस्लिम भी करते हैं। लेकिन इस के लिए किसी को 'थैंक्यू' कहने के बजाए, सब को कोसने की मानसिकता है। इस मनोरोग को परखना चाहिए। मुस्लिम समाजों की अशान्ति चौदह सौ वर्ष पुराने विश्वास और आज की सचाई में ताल मेल न बिठा सकने की वजह से हैं। बाकी सारे कारण गौण या मनगढ़ंत हैं।

भारत में इस्लाम से वापसी की बात काल्पनिक समाधान नहीं है। सवा सौ वर्ष पहले स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसे सफलतापूर्वक, और शान्तिपूर्वक कर के दिखाया था। आर्य समाज का 'शुद्धि आंदोलन' यही था। जरूर कुछ आर्य समाजियों को इस के लिए बलिदान देना पड़ा। लेकिन वह तो उस की तुलना में शून्य था, जो उसे रोक कर गाँधीजी की 'सर्व धर्म सम भाव' की खाम ख्याली शुरू करने के कारण हुआ और आज भी हो रहा है।

इस्लामी जिद और दुराग्रहों को निरंतर आदर, और वरीयता देते जाने का ही फल पाकिस्तान बनना था, जिस के बाद करोडों लोग तबाह हुए। उस की तुलना में आर्य समाज के कुछ लोगों का अपना बलिदान कुछ न था! नोट करने की बात यह भी है, कि स्वामी दयानन्द का सम्मान बड़े बड़े मुस्लिम भी करते थे। उन पर सर सैयद की श्रद्धांजलि पढ़कर देखें। सचाई और साफगोई पर टिकने का यह स्वभाविक फल होता है। जबकि गाँधीजी की अस्थि प्रवाहित करने की इजाजत भी पाकिस्तान में नहीं मिली, जीवन काल में तो उन्हें मुस्लिमों का समर्थन नहीं ही मिला, जिन्हें जीतने की चाह में उन्होंने देश और अपना, दोनों का बलिदान कर दिया।

वस्तुतः यही समीकरण समझना जरूरी है। इस्लाम पर आलोचनात्मक विमर्श और सामुदायिक हिंसा में विपरीत अनुपात का संबंध है। इस्लाम पर जितनी ही खुली आलोचनात्मक बातचीत होगी, उतनी ही आपसी समझ बढ़ेगी, और हिंसा का कारण लुप्त होता जाएगा। इस के विपरीत, जितना ही इस्लाम को माँगों, निर्देशों, कानूनों पर चुप्पी रखी जाएगी, सामुदायिक तनाव, हिंसा को रोकना कठिन होता जाएगा। बल्कि, खुद इस्लामी फिरकों की आपसी हिंसा भी बढ़ेगी। क्योंकि 'इस्लामी शुद्धता' की माँग अंतहीन है। उसे संतुष्ट किया ही नहीं जा सकता।

व्यवहार में भी देखें कि इस्लाम की आलोचना करने वालों ने एक भी मुसलमान को शारीरिक चोट नहीं पहुँचाई। वे सदैव, निरपवाद रूप से मुस्लिमों के प्रति सदभावपूर्ण रहे। दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, टैगोर से लेकर आज राम स्वरूप, सीताराम गोयल, कोएनराड एल्स्ट, आदि सभी आलोचक निहायत अहिंसक लोग रहे हैं। इस के विपरीत, इस्लाम को भरपूर श्रद्धा सुमन चढ़ाने वाले जॉर्ज बुश, ब्लेयर से लेकर सद्दाम, खुमैनी, बगदादी, और तालिबान, जमात उल दावा, लश्करे-तैय्यबा, जैशे मुहम्मद, हिजबुल मुजाहिदीन, इस्लामी स्टेट, आदि लोगों, संगठनों ने ही हजारों मुसलमानों को मारा है।

इस प्रकार, इस्लाम की आलोचना करना वास्तव में संपूर्ण इंसानियत के हित में है, जिस में मुसलमान भी आते हैं। इस के विपरीत, पहले शरीयत की फिक्र करना पूरी इन्सानियत के विरुद्ध जाता है, जिस में मुसलमान भी मारे जाते हैं। इस सरल गणित को न देखना बुद्धि विरोधी है। मानवता के विरुद्ध तो है ही।

भारत में सही काम अभी तक नहीं हो सका, इस के मुख्य अपराधी वे सेक्यूलर प्रोफेसर, लेखक, संपादक हैं जिन्होंने इस्लाम के इतिहास और मतवाद पर विमर्श को जबरन दबा कर रखा। खुद मुसलमानों को भी बोलने नहीं दिया, जो अपनी मुक्ति की आवाज उठाते रहे हैं। अतः इस्लाम की रक्षा, वर्चस्व, आदर, आदि नाम पर जो भी हिंसा होती रही है, उस के मुख्य अपराधी वही सफेदपोश, भले दिखने वाले सेक्यूलर बौद्धिक हैं, जिन्होंने शरीयत का पक्ष लेकर इन्सानियत के स्वरों का सदैव दमन किया।

अतः इन्सानियत के पक्ष में जरूरी है कि इस्लाम के सिद्धांत व्यवहार पर विमर्श का रास्ता खोला जाए। तभी वह बौद्धिक जड़ता टूटनी शुरू होगी, जो हर प्रकार के जिहादी, आतंकी तैयार करती है। जिहादी आतंकवाद मुख्यतः दिमागी चीज है, जिस का इलाज सैनिक बल से नहीं, चेतना में बदलाव से ही हो सकता है। इस के लिए खुली बात चीत के प्रयास को हर संभव समर्थन दिया जाना चाहिए। वास्तविक समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे के लिए यह निहायत जरूरी है।

यह बिलकुल साफ समाधान है। खासकर, जब दुनिया भर के अनेक प्रबुद्ध मुस्लिमों ने बार बार इस की माँग की है। गत सौ सालों में ऐसे विद्वान, जानकार मुसलमानों की अच्छी संख्या है जिन्होंने समय समय पर इस्लाम में सुधार या उस से मुक्ति की चाह व्यक्त की है। अनेकों ने खुद इस्लाम से नाता तोड़ने की घोषणाएं की हैं। इब्न वराक, अनवर शेख, वफा सुल्तान, आदि कुछ नाम तो जाने माने हैं।

गैर मुस्लिम बुद्धिजीवियों, नेताओं, सत्ताओं द्वारा वैसे मुक्त मुसलमानों की उपेक्षा करना, और ऐसे लोगों का बौद्धिक दमन करना साफ अन्याय भी है। जबकि ऐसे लोगों ने अपनी ओर से कई गुना साहस दिखाया और खतरा उठाया है। उन की तुलना में हिन्दू सेक्यूलर नेता या हिन्दूवादी संगठनों द्वारा तो बहुत कम साहस की जरूरत है। उन्हें तो उन मुस्लिमों का स्वागत करना चाहिए जो बौद्धिक जड़ता से मुक्त होकर खुले विचार विमर्श की माँग कर रहे हैं।

समय आ गया है कि इन्सानियत पूरे मुस्लिम समुदाय पर अपना दावा करे। उसे शरीयत की कैद से आजाद होने में मदद करे। इस में कुछ भी अनुचित नहीं है। 'आया है जो जाएगा' का सिद्धांत शासनों, विचारधाराओं, मतवादों पर भी लागू होता है। कोई उस से परे नहीं।

मानवता एक है, दो नहीं। लेकिन 'बिलीवर' और 'अनबिलीवर', 'मोमिन' और 'काफिर', 'दारुल हरब' और 'दारुल इस्लाम' की शब्दावलियाँ ही इसे खंडित करती है। इसे समझे और दृढ़तापूर्वक खारिज किए बिना किसी स्थायी समाधान की आशा नहीं की जा सकती।